

‘रोटी का हक’ – एक मुहिम

हाल के कुछ तथ्यों से पता लग रहा है कि भारत, दुनिया के उन देशों की श्रेणी में आता है जहाँ सबसे अधिक कुपोषण है। 1998-89 के ‘राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण’ के कुछ सूचकांक एक नमूना पेश करते हो :

कुपोषित बच्चे ;उम्र-विशेष में जो वजन होना चाहिए उससे बहुत कम होना – कुपोषण का एक आधार हैद्व	47:
जन्म के समय बहुत कम वजन होना	34:
जिन महिलाओं को खून की कमी है	52:
कम वजन की महिलाएँ ;जिनके शरीर में हड्डी, अंग इत्यादि के अनुपात में माँस बेहद कम हैद्व	36:
बुखार से पीड़ित बच्चे	30:
उल्टी-दस्त के शिकार बच्चे	20:
छूत की खाँसी से ग्रस्त बच्चे	20:

भूख का अँधेरा कुँआ

पूरे भारत में स्वास्थ्य और पौष्टिकता की स्थिति शोचनीय है। लेकिन गरीब राज्यों की स्थिति और बदतर है। इन राज्यों के पिछड़े इलाकों की तो बात ही न पूछिए।

बिहार में:

- 90: बच्चों को टीके नहीं लगे हो।
- 65: महिलाएँ पढ़-लिख नहीं सकतीं।
- 26: बच्चे भयंकर रूप से कुपोषित हो।

उड़ीसा में:

- सर्वे के वक्त 36: बच्चों को बुखार था।
- सिर्फ 20: महिलाएँ हफ़ते में एक बार दूध पीती हो।
- 16: महिलाओं को हफ़ते में एक बार अंडा मिलता है।
- 14: महिलाओं को हफ़ते में एक बार फल मिलता है।

इन राज्यों के बेहद पिछड़े इलाकों की दयनीय स्थिति को मानवीय आपदा ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए झारखंड के पलामू जिले में स्थित कुसुमातांड गाँव के दलित मोहल्ले को देखें। 21 घरों का सर्वे हुआ, जिससे ये निष्कर्ष निकले :

- 20 परिवारों ने बताया कि उन्हें दिन में किसी न किसी वक्त का एक भोजन उन्हें बराबर छोड़ना पड़ता है।
- कुल 7 परिवारों के पास एक कम्बल या रजाई थी।
- सिर्फ दो ने बताया कि सभी व्यस्कों के पैरों में चप्पल थी।

मनातू – विनाशकारी विकास की एक मिसाल

मनातू ब्लॉक के कुसुमातांड गाँव में भूख से हुई मौतों की खबर के बाद ग्राम स्वराज अभियान की एक खोजी-टीम ने चार पंचायतों के 36 गाँवों का सर्वे किया : मनातू, पदमा, बज़लपुर और पसिया। इलाके में असफल विकास की भयंकर तस्वीर उभरी। इन 36 गाँवों के कुछ चुने हुए नतीजे :

1^प बुनियादी सुविधाएँ – 21 गाँवों में कच्ची सड़कें हो।

30 में पिछले 12 महीनों से, कोई बी.डी.ओ/सी.ओ. झाँकने नहीं आया।

2^प स्कूल

19 गाँवों में प्राथमिक स्कूल नहीं है।

17 प्राइमरी स्कूलों में से 9 बन्द हो। ज़्यादातर को बन्द हुए एक साल से ऊपर हो गया है।

बाकी 8 चलने वाले स्कूलों में से 5 में सिर्फ़ एक टीचर है।

36 गाँवों में कुछ मिलाकर 12 प्राइमरी शिक्षक हो।

6-11 वर्ष की उम्र के 2000 बच्चे हो।

यानी 170 बच्चों के लिए एक शिक्षक।

3. सार्वजनिक वितरण प्रणाली ; राशनद्ध यानी पी.डी.एस.

पिछले दो साल में, गरीबी रेखा के नीचे जी रहे ; बी.पी.एल.द्ध लाल कार्ड धारक किसी परिवार को राशन का अनाज नहीं मिला।

सरकारी रिकार्डों के मुताबिक जनवरी और मई 2002 के बीच में मनातू को अनाज ; गेहूँ और चावलद्ध का बी.पी.एल कोटा 15,598 क्विंटल दिया गया। इसमें से दुकानदारों ने 4,677 क्विंटल यानी 30: अनाज उठाया। इसमें से एक भी दाना गरीब परिवारों तक नहीं पहुँचा।

2001 के मध्य में बेहद गरीब परिवारों के लिए अन्त्योदय कार्यक्रम लागू किया गया था। इन 36 गाँवों में अन्त्योदय परिवारों को जितना मिलना चाहिए था, उसका लगभग 25: ही मिला।

4 सरकारी अफ़सर – गाँवों से दूर

इन 36 गाँवों में कौन से सरकारी अफ़सर/मुलाज़िम साल में कितनी बार पहुँचे – इसका अन्दाज़ा इन आँकड़ों से लगाया जा सकता है :

पुलिस अफ़सर	14 गाँव
पंचायत सेवक	14 गाँव
नर्स	12 गाँव
बी.डी.ओ.	6 गाँव
जूनियर इंजिनियर	5 गाँव
स्कूल इन्सपेक्टर	1 गाँव
ब्लॉक हेल्थ अफ़सर	0 गाँव

एक गाँव में लोगों ने बताया कि उनके गाँव में 1947 ;स्वतन्त्रताद्ध के बाद से कभी कोई सरकारी अफ़सर नहीं आया!

पी.यू.सी.एल. की अर्जी का सारांश

सन् 2001 के मध्य में भारत में 'बहुतायत के बीच भूख' का एक नया रूप देखने को मिला। एक ओर देश में अनाज का भण्डार इतना भरा जितना कभी नहीं भरा। दूसरी ओर सूखा-ग्रस्त तथा अन्य इलाकों में भूख भी बढ़ी। इस स्थिति के आधार पर पीपुल्स यूनियन ऑफ सिविल लिबर्टीज़ ;पी.यू.सी.एल. यानि नागरिक आज़ादी के लिए जन संगठन – राजस्थान इकाईद्ध ने 'रोटी के हक' को लेकर सर्वोच्च न्यायालय में एक अर्जी डाली। शुरू में यह केस, सूखा-राहत के विशिष्ट सन्दर्भ में, भारत सरकार, भारतीय खाद्य निगम और छः राज्य सरकारों के विरु(दायर किया गया था। लेकिन बाद में इसमें व्यापक तौर पर मौजूद, सदा चलती रहने वाली भूख को शामिल किया गया और सभी राज्यों को मुद्दई बनाया गया जिनसे जवाब-तलब करना था।

इस अर्जी का कानूनी आधार बहुत सीधा सादा है। संविधान की धारा 21 जीने के हक देती है और सरकार का कर्त्व्य बनता है उसकी रक्षा करना। यह एक मौलिक अधिकार है। पहले के कई केसों में सर्वोच्च न्यायालय ने फ़ैसले दिए हो कि जीने के अधिकार का मतलब है इज़्जत से जीने का अधिकार और रोटी या खाने का अधिकार भी अन्य कई अधिकारों की तरह इज़्जत से जीने के अधिकार में शामिल है। मूल रूप से इस अर्जी में दलील दी गई है कि नीति तथा कार्यान्वयन, दोनों स्तरों पर, राहत की स्थिति के प्रति केन्द्र और राज्य सरकारों की प्रतिक्रिया स्पष्टतः इस अधिकार का उल्लंघन है। इस अर्जी ने इस बात को साबित करने के लिए सरकारी और ज़मीनी स्तर के आँकड़ों का प्रयोग किया है।

खाद्य सुरक्षा मुहैया कराने में सरकारी उपेक्षा को लेकर अर्जी ने दो पहलुओं को चिन्हित किया है। एक है सरकार द्वारा राशन प्रणाली ;सार्वजनिक वितरण प्रणालीद्ध का ख़त्म किया जाना। राशन प्रणाली की असफलता कई स्तरों पर उजागर होती है। इसकी सुविधा केवल गरीबी रेखा के नीचे जी रहे लोगों के लिए सीमित की गई है लेकिन जो मासिक कोटा तय किया है वह इंडियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च द्वारा निर्धारित पौष्टिकता स्तर से नीचे है। इसके अतिरिक्त इसे भी जहाँ-तहाँ ही लागू किया गया है। राजस्थान में गाँवों का एक सर्वे किया गया। इनमें से एक तिहाई गाँवों में ही पिछले तीन महीनों में समय पर अनाज बाँटा गया। उसके आधे गाँवों में अनाज बिल्कुल

नहीं बंटा। गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले परिवारों का सर्वे भी कोई भरोसेमंद नहीं है। कुल मिलाकर इन परिवारों को राशन-प्रणाली के ज़रिए जो मदद मिल रही है हर महीने एक व्यक्ति के लिए पाँच रूपए से भी कम है।

इस अर्जी का दूसरा बिन्दु है सरकार के राहत कार्य की कमियाँ। कई राज्यों में अकाल सम्बंधी नियमावली है जिसके आधार पर राहत कार्य होते हो। सूखा की स्थिति में इन्हें लागू करना अनिवार्य हो जाता है। इसके अनुसार ये ज़रूरी है कि "हर ऐसे व्यक्ति को काम दिया जाए जो राहत-कार्य के लिए आता है।" लेकिन इसके विपरीत राजस्थान सरकार ने 'श्रम-सीमा' की नीति अपनाई है। इसमें सरकारी आँकड़ों के अनुसार 5: सूखा पीड़ित आबादी को ही काम मिल पाता है। वास्तविक रोज़गार का स्तर इससे भी नीचे है। बहुत सी जगहों से ख़बर मिली है कि कानूनी रूप से मान्य न्यूनतम वेतन नहीं मिलता है।

इन समस्याओं की जिम्मेदारी सरकार पैसों की कमी पर डालती है। यह अर्जी इस बहाने को ध्वस्त करती है। सर्वोच्च न्यायालय ने पहले ही कह दिया है कि संवैधानिक कर्त्तव्यों को पूरा करने की असफलता को सरकार 'पैसे की कमी' के मत्थे नहीं मढ़ सकती। वैसे भी, खाद्य के ऊपर तक भरे भण्डारण को देखते हुए यह बहाना बिल्कुल नहीं लागू हो सकता। राज्य सरकार ने बार-बार केन्द्र सरकार से राहत-कार्य के लिए मुफ़्त अनाज माँगा है पर उसे मिला नहीं। लेकिन यह भी है कि राज्यों को जो अनाज मिला है उसका भी अक्सर पूरा उपयोग नहीं हुआ है। इसकी वजह से राज्य सरकार का पक्ष कमज़ोर भी पड़ जाता है।

अर्जी के अन्त में सर्वोच्च न्यायालय से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की गई है। खास तौर पर अर्जी में न्यायालय से माँग की गई है कि वो राजस्थान सरकार को आदेश दे कि वो ;कद्ध सूखा-पीड़ित गाँवों में तुरन्त खुले रोज़गार की व्यवस्था करें, ;खद्ध जो लोग काम नहीं कर पा रहे हो उन्हें एकमुश्त राहत राशि दे ;गद्ध हरेक परिवार को राशन प्रणाली से मिलने वाले अनिवार्य अनाज की मात्रा बढ़ाई जाए और ;घद्ध सभी परिवारों को रियायती दरों पर अनाज दिया जाए। अन्त में अर्जी में अनुरोध किया गया है कि न्यायालय केन्द्र सरकार को हुक्म दे कि वो इन कार्यक्रमों के लिए मुफ़्त अनाज का प्रबंध करे।

दोपहर—भोजन का महत्त्व

‘रोटी का हक – अभियान’ के शुरुआती दौर नवम्बर 2001 में, अन्य सफलताओं के साथ एक खास सफलता थी सर्वोच्च न्यायालय का ये आदेश कि सभी राज्य सरकार प्राथमिक स्कूलों में भोजन की व्यवस्था करें। कुछ राज्यों, खासकर तमिलनाडु में दोपहर भोजन के सफल कार्यक्रम चल रहे थे। लेकिन कुछ अन्य राज्यों ने कहा कि उनके पास जरूरत भर पैसे नहीं हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें कड़ाई से आदेश दिया कि “किसी अन्य क्षेत्र में फिजूलखर्ची कम की जाए।”

स्कूल में दोपहर भोजन को जितना महत्त्व दिया जाए उतना कम है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे ,1998–99 के अनुसार भारत के तकरीबन 50 फीसदी बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। बढ़ती उम्र में जिन बच्चों को घर पर पर्याप्त भोजन नहीं मिल पाता उनके लिए स्कूल में पके भोजन की व्यवस्था उनकी पौष्टिकता की जरूरत को पूरा करती है। इस योजना के जरिए पेट के कीड़े मारने की दवा, और लौह केप्सूल जैसे विटामिन आदि, सस्ते माध्यम से बच्चों तक पहुँचाई जा सकते हैं।

पौष्टिकता बढ़ाने में एक भूमिका अदा करने के अतिरिक्त दोपहर भोजन कई तरीकों से स्कूल में बेहतर पढ़ाई को प्रोत्साहन देता है। हाल में हुए राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण समिति की पड़ताल के अनुसार, दिल्ली में गरीब परिवारों के ज्यादातर बच्चे खाली पेट स्कूल जाते हैं ;हिन्दुस्तान टाइम्स–15 अक्टूबर 2002 के दोपहर—भोजन—योजना के जरिए कक्षा में भूख से निपटा जा सकता है। जिससे बच्चों का दिल पढ़ने में लगता है। इससे कक्षा की गतिविधियों में पड़ने वाली रुकावट से भी बचा जा सकता है। दोपहर भोजन न होने पर बच्चे अगर खाना खाने घर जाते हैं तो अक्सर बहुत ज्यादा समय लगाते हैं या आते ही नहीं।

फिर दोपहर भोजन से बच्चे, खास कर लड़कियाँ स्कूल के प्रति आकर्षित होती हैं। उदाहरण स्वरूप तमिलनाडु में दोपहर—भोजन योजना लागू होने के बाद, लड़कियों का दाखिला और हाजरी कई गुना बढ़ गए। राजस्थान का हाल का अनुभव भी इसी ओर इशारा करता है। जैसा कि ‘बुनियादी शिक्षा पर सार्वजनिक रिपोर्ट’ ;प्रोबद्ध ने रेखांकित किया है कि बहुत से माँ—बाप बेटियों को पढ़ाने के विरु(नहींहैं पर शिक्षा के खर्च से घबराते हैं। दोपहर—भोजन की वजह से स्कूल खर्च कम हो जाते हैं, जिससे बेटियों को स्कूल भेजना आसान हो जाता है। बच्चों को स्कूल में हाज़िर रहने के लिए एक प्रेरणा भी मिलती है।

अन्त में, दोपहर—भोजन बच्चों के सामाजीकरण में अहम् भूमिका निभाता है। साथ में बैठकर, एक प्रकार का खाना, आपस में बांटकर खाने से, बच्चे पारम्परिक जातिगत पूर्वाग्रहों को नज़रअंदाज़ करना भी सीख जाते हैं। इस भोजन—योजना का उपयोग साफ़—सफ़ाई की सीधी—सादी आदतों को सिखाने के लिए भी किया जा सकता है।

परन्तु आगाह करने की ज़रूरत है कि दोपहर-भोजन कार्यक्रमों की सफलता के लिए ज़रूरी है गुणवत्ता का अच्छा स्तर रखना। यदि दोपहर-भोजन का ठीक तरीके से इन्तज़ाम नहीं हो पाता तो समस्याएं उभर सकती हैं, जैसे पेट-दर्द और कक्षा की पढ़ाई में बाधा। चूँकि सर्वोच्च न्यायालय के आदेश में स्कूल-भोजन की गुणवत्ता के बारे में कोई खास निर्देश नहीं हैं, सार्वजनिक निगरानी बेहद आवश्यक हो जाती है।

स्कूल के दोपहर भोजन का आदेश हमारी क़ानूनी जीत का पहला कदम है। अभी बहुत कुछ करना बाकी है। एक तो देखना है कि यह आदेश लागू हो, दूसरा यह कि गुणवत्ता के उच्च स्तर हासिल हों। फिर भी कई जगह इस आदेश का पालन हो रहा है, यह उत्साहवर्धक है।

‘जन सुनवाई और रोटी का हक’

रोटी के हक के लिए आवाज़ बुलन्द करने का एक कारगर माध्यम है जन सुनवाई। इनके ज़रिए लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते हैं, खाद्य-संबंधी कार्यक्रमों में भ्रष्टाचार का पर्दाफ़ाश होता है और अपने कर्तव्यों के प्रति सरकार की ज़िम्मेवारी का अहसास करवाया जाता है। ‘रोटी का हक – अभियान’ के तहत सन् 2002 में कई जन सुनवाईयाँ रखी गईं, जैसे 9 अप्रैल को शंकरगढ़, उत्तर प्रदेश में, 9 जुलाई को पलामू, झारखंड में, 22 अक्टूबर को कालाहांडी, उड़ीसा में, और 4 दिसम्बर को केलवाड़ा, राजस्थान में। इन सभाओं से पाँच स्पष्ट फ़ायदे हुए:

आवाज़: जन सुनवाई, सामान्य नागरिकों को अपने अनुभवों और सरोकारों को लोगों के सामने रखने का मौका देती हैं। खास तौर से यह प्रक्रिया खाद्य-संबंधी कार्यक्रमों की खामियों को पहचानने और बताने में मददगार होती है। जैसे कई जनसुनवाईयाँ से निकल कर आया कि ग़रीबी रेखा के नीचे जी रहे लोगों का ग़लत चुनाव हुआ है। हाल की जनसुनवाईयाँ में सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के उल्लंघन का मामला भी कई जगह निकलकर आया। जैसे कालाहांडी में सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध 35 किलो चावल की जगह, लोगों को राशन से 16 किलो चावल ही मिल रहा था। सभी पक्षों को मंच प्रदान करके समस्या को हर तरफ से समझने के लिए, जनसुनवाई एक ऐसा औजार बनता है जो विरोधाभासों को दूर करता है और स्पष्ट विकल्प की भी पहचान करता है।

जवाबदेही : आम तौर पर हाशिए पर जीने वाले लोगों की सरकार के आगे कोई सुनवाई नहीं होती है। पर जनसुनवाई एक सार्वजनिक कार्यक्रम है, जिसमें बहुत से लोग भाग लेते हैं और टी.वी., अखबार भी दिलचस्पी लेते हैं, जिसकी वजह से सरकार को आलोचनाओं से निपटना मुश्किल होजाता है। पलामू के बी.डी.ओ. हफ्ते में मुश्किल से दो बार मनातू आते हैं। लेकिन जनसुनवाई में उन्हें आना ही पड़ा क्योंकि हजारों गाँव वाले उनके ब्लॉक केन्द्र पर पहुँच गए। केलवाड़ा की जनसुनवाई में 30 से अधिक आई.एस.अफ़सरों ने भाग लिया। उन्हें ज़मीनी सच्चाई की बारीकियों का सामना करना पड़ा। वहाँ के बी.डी.ओ. ने पूरी प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाई और कई समस्याओं का समाधान निकालने का प्रयास किया।

लामबन्दी : सुनवाई में आई कहानियाँ बाद में जांच पड़ताल और समस्या समाधान का मजबूत आधार बनती हो। पलामू की सुनवाई के बाद लोगों ने तय किया कि भविष्य में ठोस कदम उठाए जाएंगे। स्थानीय अफ़सरों, अखबार टी.वी. वाले लोगों, राजनैतिक नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा अन्य नागरिकों की इसमें दिलचस्पी बढ़ती है। इसका आगे के कदमों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इस अभियान ने राजनैतिक विमर्श की मुख्यधारा के केन्द्र में ‘रोटी के हक’ को लाने के लिए इसका

उपयोग किया है। सर्वे और जनसुनवाई की वजह से सर्वोच्च न्यायालय ने उन राज्यों को कटघरे में खड़ा किया, जो न्यायालय के आदेशों का पालन करने में ढिलाई कर रहे थे।

सशक्तिकरण : जनसुनवाई वो मौका देती है जहाँ लोग समझ सकें कि ज़रूरी नहीं कि स्थिति ऐसी ही बनी रहे। उन्हें अपनी सामूहिक ताक़त और बदलाव की सम्भावना का भी अहसास होता है। जन सुनवाई सरकारी मुलाज़िमों और निहित स्वार्थों को चेतावनी भी देती है कि लोग जागृत और संगठित हो रहे हैं। शंकरगढ़, पलामू, केलवाडा तथा अन्य पिछड़े इलाकों में हुई जन सुनवाइयों से दलित, आदिवासी तथा अन्य वंचित तबकों में काफ़ी जोश और आशा उभरी है।

शिक्षा : अन्त में, जनसुनवाई राजनीतिक शिक्षा का एक रूप है। भागीदारों को वह ऐसे संस्थानों और प्रक्रियाओं को देखने का मौका देती है, जो सामान्यतः उनकी पहुँच के बाहर हैं। जनसुनवाई लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जन-भागेदारी का एक स्वरूप है। 'करते हुए सीखने' का अनुभव लोकतान्त्रिक भागेदारी की ओर एक कदम है।

रोटी का हक़ और काम का हक़

महाराष्ट्र में 'काम के हक़' को पाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है। राज्य की विधान सभा ने 1970 के दशक में 'रोज़गार गारंटी योजना' को सर्वसम्मति से मंज़ूर किया। इसके आधार पर हर नागरिक माँग रख सकता है उसे न्यूनतम वेतन पर, सार्थक रोज़गार पाने का हक़ है। हालांकि वास्तविकता ये है कि यह योजना सचमुच में सबको काम नहीं दिला पाती है क्योंकि राज्य के कर्मचारी अक्सर अपनी जिम्मेदारियों से मुकरने में सफल हो जाते हैं। फिर भी यह रोज़गार की माँग रखने में, गाँव के ग़रीबों के हाथ मजबूत करती है। एक औसत दिन में, 'रोज़गार गारंटी योजना' के तहत, ग़रीब परिवारों के कोई 50,000 लोगों को काम मिलता है। हाल के कुछ अध्ययनों ने इस कार्यक्रम के कुछ अन्य फ़ायदों को भी रेखांकित किया है, जैसे कुछ कारगर सम्पत्ति की रचना, खेतिहर मजदूरी के बेहतर पैसे, शहरों की ओर पलायन में कमी तथा सत्त के स्थानीय ढाँचे में बदलाव। यह योजना खास तौर पर औरतों के लिए बहुत महत्व रखती है क्योंकि 'रोज़गार गारंटी योजना' में लगे मजदूरों में आधी से अधिक औरतें हो।

भारत के कुछ अन्य भागों में श्रम-बहुल ग्रामीण कार्ययोजनाओं की पुरानी परम्परा रही है खासकर जिन वर्षों में सूखा पड़ता है। लेकिन ये योजनाएँ 'काम के हक़' पर नहीं आधारित हो। जब जैसे संसाधन और प्रतिबद्धता होती है उसके अनुसार रोज़गार के अतिरिक्त साधन सरकार उपलब्ध कराती है। कैसे 'रोज़गार की गारंटी' इस प्रकार की मनमानी व्यवस्था के मुकाबले, वास्तविक परिवर्तन ला सकता है इसके कई आधार हो।

पहली बात, रोज़गार की गारंटी उनकी मोल भाव करने की ताकत बढ़ाती है जो काम की माँग कर रहे हो। यह बात सर्वोपरि है, यह देखते हुए कि संगठित सार्वजनिक दबाव के अभाव में सरकारी नुमाइंदों का काम से जी चुराना सर्वव्याप्त समस्या है।

दूसरी बात, लोगों की माँग पर आधारित तरीका यह सुनिश्चित करेगा कि रोज़गार वहाँ दिया जाए जहाँ और जब, सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। जब ऊपर के आला अफ़सर रोज़गार बाँटते हो, तब राजनेता और अफ़सर की अपनी इच्छा अनिच्छा, लोगों की असली ज़रूरतों से ज़्यादा महत्वपूर्ण हो जाती हो।

तीसरी बात 'रोजगार गारंटी योजना' सबसे ज़्यादा ग़रीब तबकों को शामिल कर सकता है। जब रोजगार के मौके कम होते हो, तब जिनके पास थोड़ी ताकत है, जिनकी ऊपर वालों से कुछ जान पहचान है उन्हें काम मिल जाता है जबकि अधिक कमज़ोर वर्ग छूट जाते हो। इसके उल्टे रोजगार गारंटी की खुली योजना 'स्वयं के चुनाव' पर आधारित है, जहाँ ग़रीब स्वयं निर्णय लेते हो कि वे भाग लें या न लें।

चौथी बात, 'काम का हक' लोगों के जीवन में कुछ चैन ले आता है। आज मजदूरों को पता नहीं कि खेती के खाली मौसम में काम मिलेगा या नहीं। इसके चलते इस खाली मौसम में हज़ारों लोग पलायन करते हो। खास कर रेगिस्तानी इलाकों में। 'रोजगार गारंटी योजना' से मजदूरों को विश्वास रहेगा कि स्थानीय स्तर पर ही उन्हें काम मिल सकता है, जिससे पलायन कम होगा।

आख़ीर में, कानूनी रूप से लागू की गई 'रोजगार गारंटी योजना आधी अधूरी मनमानी योजनाओं से ज़्यादा टिकाऊ होगी। महाराष्ट्र की 'रोजगार गारंटी योजना', बड़े राजनैतिक फेर बदल के बावजूद, करीब 30 सालों से चल रही है। इसके मुकाबले रोजगार के अन्य कार्यक्रम कुछ दिन चल कर बन्द हो जाते हो। पिछले तीन सालों में ही ऐसे कई कार्यक्रम बने और खत्म हुए।

संक्षिप्त में, महाराष्ट्र के अनुभव को आगे बढ़ाते हुए ज़रूरत है कि राष्ट्रव्यापी स्तर पर रोजगार गारंटी कार्यक्रम शुरू किया जाए। अगर इस कार्यक्रम में कुछ दम होना है तो इसे कानूनी जवाबदेही से जोड़ना ही होगा। आज इसका पक्ष और मजबूत है, जब सरकारी गोदामों में 5 करोड़ टन अनाज बेकार पड़ा है। यह संसाधन हमें एक अहम् मौका दे रहा है कि काम के हक को सच्चाई में परिवर्तित किया जाए।